दशरूपक और नाट्यदर्पण में रस-स्वरूप एवं निष्पत्ति : एक तुलनात्मक विवेचन

काज़ी अन्जुम सैफ़ी

'मुञ्ज महीश गोष्ठी वैदग्ध्य भाजा'[1] के उद्‌घोषकर्ता आचार्य धनञ्जय का दशरूपक और 'त्रैविध वेदिनो[2]' जैसे विशेषण के प्रयोगकर्त्ता जैनाचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा सम्मिलितरूपेण विरचित नाट्यदर्पण भारतीय नाट्य परम्परा में आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात् अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। रस-स्वरूप एव निष्पत्ति के सम्बध में इन ग्रन्थों में प्रतिपादित विचार परम्परागत विचार-सरणि से पर्याप्त भिन्न प्रतीत होते हैं। अतः इनका अध्ययन ज्ञान और जिज्ञासा की दृष्टि से उपादेय प्रतीत होता है। दोनों ग्रन्थकारों के मन्तव्यों के पूर्ण स्पष्टीकरण और उनके प्रति न्याय की दृष्टि से यह आवश्यक तथा उचित प्रतीत होता है कि प्रथम उनके मन्तव्यों को पृथक्-पृथक् कर तत्पश्चात् उनका पारस्परिक तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाये।

दशरूपक में रस-स्वरूप एवं निष्पत्ति :—धनञ्जय दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में रस-विषयक विवेचन करते हैं। उनके अनुसार सामाजिक के चित्त में स्थित 'रति' आदि भाव ही 'विभाव' आदि के माध्यम से आस्वाद्य होकर श्रृंगार आदि रस-रूप को प्राप्त होते हैं'[3]। उनका मन्तव्य है कि रस वाक्यार्थरूप होता है। जिस प्रकार वाच्य अथवा प्रकरण आदि के द्वारा बुद्धिस्थ क्रिया ही कारकों से अन्वित होकर वाक्यार्थ होती है, उसी प्रकार 'विभाव' आदि से युक्त होकर 'स्थायी भाव' भी वाक्यार्थरूप होता है[4]।

वैयाकरणों के अनुसार वाक्य में क्रिया की प्रधानता होती है क्योंकि कारकों से युक्त क्रिया ही वाक्यार्थ का आधार होती है। श्रोता अथवा पाठक को क्रिया-ज्ञान दो प्रकार से सम्भव है—प्रथम, इसके प्रत्यक्षरूपेण शब्दशः कथन द्वारा। यथा—'गामभ्याज' आदि वाक्य में 'अभ्याज' के रूप में क्रियापद का शब्दशः कथन किया गया है। द्वितीय, श्रोता अथवा पाठक प्रस्तुत प्रकरण आदि के आधार पर क्रियापद का स्वयं अध्याहार कर लेता है। यथा—द्वारं द्वारम्' आदि वाक्यों में प्रकरण के अनुरूप 'पिधेहि' आदि उपयुक्त क्रिया का स्वयं अध्याहार कर लिया जाता है[5]।

---

१. आविष्कृतं मुञ्जमहीरा गोष्ठी वैदग्ध्य भाजा दशरूपमेतत्। ४।८६ दश०।

२. त्रैविधवेदिनोऽप्यस्मै ततो नित्यं कृतस्पृहाः ॥ ना० द० का प्रारम्भिक श्लोकांश।

३ विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥ ४।१ दश०।

४. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायीभावस्तथेतरैः ॥ ४।३७ पूर्वोक्त।

५. धनिक-वृत्ति (दश०) पृ० ३३३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त लौकिक उदाहरण के सदृश ऐसी ही व्यवस्था काव्य में भी होती है। उसमें भी कहीं 'प्रोत्यै नवोदा प्रिया.....' आदि के समान स्वशब्दोपादानपूर्वक 'रति' आदि स्थायी भावों का प्रत्यक्षतः कथन कर दिया जाता है। कहीं स्थायीभाववाचक शब्दों का प्रयोग न करके भी अप्रत्यक्षरूपेण उसका कथन कर दिया जाता है। स्थायीभाव का परोक्ष रूप में कथन भी दो रूपों में सम्भव है। कहीं प्रकरण आदि के द्वारा श्रोता अथवा पाठक को इसका ज्ञान हो जाता है और कहीं अविनाभाव रूप में सम्बद्ध 'विभाव' आदि के कथन से यह ज्ञात हो जाता है, क्योंकि सहृदय सामाजिक इस तथ्य से पूर्णतः भिज्ञ होता है कि अमुक 'विशिष्ट विभाग' अमुक स्थायीभाव के साथ निश्चित रूप से रहते हैं। उपर्युक्त किसी भी रूप से ज्ञात 'स्थायीभाव' काव्य में वर्णित विविध 'विभाव' आदि से परिपुष्ट होकर 'रस' कहा जाता है[1]।

अतः स्पष्ट है कि धनञ्जय के अनुसार लौकिक वाक्य, वाक्यार्थ और 'विभाव' आदि एवं 'रस' में पूर्ण साम्य है। वाक्य में स्थित 'रति' आदि क्रियापद-स्थानीय हैं, 'विभाव' आदि कारकपद-स्थानीय हैं और 'रस' वाक्यार्थ रूप है। इससे यह तथ्य भी स्पष्टरूपेण ध्वनित हो जाता है कि धनञ्जय रस एवं काव्य में व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते हैं तथा रस-निष्पत्ति के प्रसङ्ग में व्यञ्जनावृत्ति भी उनको अस्वीकार्य ही है।

वस्तुतः कुमारिलभट्ट के समर्थक मीमांसकों के अनुसार पदार्थ और वाक्यार्थ परस्पर भिन्न वस्तुए हैं, क्योंकि वाक्यार्थ वाक्य में स्थित विविध पदों के अर्थों का समूह मात्र न होकर उससे सर्वथा भिन्न एवं नवीन वस्तु है। वाक्य में स्थित पद अभिधा आदि के माध्यम से परस्पर असम्बद्ध रूप में अपने अर्थों का बोधमात्र करा देते हैं, क्योंकि वे स्वार्थ बोध-मात्र की सामर्थ्य से युक्त होते हैं। अर्थों के परस्पर अन्वय की सामर्थ्य का उनमें अभाव होता है। बाद में परस्पर असम्बद्ध रूप में अभिहित इन अर्थों का तात्पर्यवृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ के रूप में परस्पर अन्वय अथवा संसर्ग होता है। अतः भाट्टमीमांसकों के अनुसार वाक्यार्थ-बोध तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही सम्भव है।

धनञ्जय जब रस को वाक्यार्थ-स्थानीय कहते हैं, तब अप्रत्यक्ष रूपेण उनका यही मन्तव्य प्रकट होता है कि रस तात्पर्यवृत्ति का विषय है, व्यञ्जनावृत्ति का नहीं।

धनञ्जय के व्याख्याकार धनिक के अनुसार यहाँ इस शङ्का के लिये कोई स्थान नहीं है कि जब विभाव आदि पदार्थ ही नहीं हैं, तब रस किस प्रकार वाक्यार्थ हो सकता है, क्योंकि तात्पर्य-शक्ति का पर्यवसान कार्य में होता है[2] पौरुषेय और अपौरुषेय समस्त वाक्य कार्यपरक ही होते हैं। कार्य के अभाव में उन्मत्त व्यक्ति के वाक्य के सदृश इनकी अनुपादेयता स्वयंसिद्ध ही है। काव्य-शब्दों की प्रवृत्ति का विषय विभाव आदि हैं और इनका प्रयोजन निरतिशय सुखास्वाद है। यह अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ज्ञात होता है। विभाव आदि से संश्लिष्ट स्थायी भाव की इस अलौकिक सुखास्वाद में निमित्तभूतता होती है। अतः तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान काव्य-शब्दों के प्रयोजन रूप अलौकिक आनन्दानुभूति अर्थात् विविध रसों में होता है। रसानुभूति की इस प्रक्रिया में

१. पूर्वोक्त पृ० ३३३-३३४।

२. न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्। कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः। धनिक-वृत्ति (दश०) पृ० ३३४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'विभाव' आदि पदार्थ स्थानीय हैं और उनसे संसृष्ट 'रति' आदि स्थायीभाव वाक्यार्थ स्थानीय। अतः यह 'विभाव' आदि काव्य-वाक्य के पदार्थ और वाक्यार्थ ही हैं।[१]

काव्यार्थ के साथ सम्भेद के कारण आत्मानन्द से उत्पन्न स्वाद ही रस कहलाता है।[२] कवि काव्य-शब्दों के माध्यम से राम आदि के व्यक्तिगत वैशिष्टय का वर्णन नहीं करता, अपितु निजी विशेषताओं से रहित उनकी उदात्त आदि अवस्थाओं का कथन ही उसको अभिप्रेत होता है। अतः राम आदि सामान्य आश्रय मात्र होते हैं। भूतकालिक राम आदि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि काव्य में अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं का परित्याग कर वह सामान्य रूप में ही उपस्थित होते हैं। कवि सामान्य आश्रय के रूप में इतिहास आदि को आधार बनाकर अपनी उर्वरा कल्पना-शक्ति से उनके भावों एवं कार्यों की उद्‌भावना कर चरित्र-चित्रण कर देता है।

'रति' आदि भाव रसिक के चित्त में वासनारूप में स्थित होते हैं। राम एवं सीता आदि के रूप में काव्यगत विभाव आदि 'रति' आदि को भावित कर देते हैं और तब रसिक स्वगत स्थायी-भाव आदि का ही रसके रूप में आस्वादन करता है[३]। अतः धनञ्जय के अनुसार रस एवं काव्य में भाव्य-भावक सम्बन्ध होता है, वाङ्‌ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध नहीं। वह स्वयं रस-स्वरूप एवं प्रक्रिया का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि विभाव, सञ्चारो एवं अनुभाव नामक ग्रन्थ क्रमशः चन्द्रमा, निर्वद एवं रोमाञ्च आदि पदार्थों के द्वारा भावित स्थायीभाव ही 'रस' है और उसका ही रसिक के द्वारा आस्वादन किया जाता है[४]।

धनञ्जय इस आस्वादन का स्पष्टीकरण लौकिक उदाहरण के द्वारा करते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार मिट्टी से निर्मित निर्जीव हाथी आदि के साथ क्रोडारत बालक अपने ही 'उत्साह' का आस्वादन करता है, उसी प्रकार श्रोता आदि भी अर्जुन आदि पात्रों के माध्यम से स्वस्थ 'उत्साह' आदि स्थायी भाव का ही आस्वादन करता है[५]।

धनञ्जय के अनुसार आत्मानन्द से समुद्‌भूत रस की चार अवस्थाएँ होती हैं—चित्त का विकास, विस्तार, क्षोभ एवं विक्षेप। यह चित्त-विकास आदि क्रमशः श्रृङ्गार, वीर, बीभत्स एवं रौद्र रसों में होता है। यही अवस्थाएँ क्रमशः हास्य, अद्‌भुत, भयानक एवं करुण रसों में भी होती

१. पूर्वोक्त पृ० ३३४-३३५।

२. स्वादः काव्यार्थ सम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः। ४।४३ दश०।

३. धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयतिरत्यादीन्स्वदन्तेरसिकस्य ते ॥
ता एव च परित्यक्तविशेषा रस हेतवः। ४।४०-४१, दश०।

४ पदार्थैरिन्दुनिर्वेद रोमाञ्चादिस्वरूपकैः।
काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभाव प्रख्यतां गतैः ॥
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ॥ ४।४६,४७ पूर्वोक्त।

५. क्रीडतां मृन्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः ॥
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः। ४।४१-४२ पूर्वोक्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इसी कारण हास्य आदि को क्रमशः शृङ्गार आदि से उत्पन्न कह दिया जाता है[१]। वस्तुतः चित्त-सम्भेद की अपेक्षा से ही यहाँ शृङ्गार आदि को हेतु तथा हास्य आदि को हेतुमान कहा गया है, कार्य-कारण-भाव के अभिप्राय से नहीं[२]।

नाट्यदर्पण में रस-स्वरूप एवं निष्पत्तिः—आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने विभाव एवं व्यभिचारी भावों के द्वारा पूर्ण उत्कर्ष प्राप्त और स्पष्ट अनुभावों द्वारा निश्चित स्थायी-भाव को सुख-दुःखात्मक रस कहा है। स्थायी भाव के लोक-सिद्ध कार्य, हेतु और सञ्चारियों को काव्य में क्रमशः अनुभाव, विभाव, और व्यभिचारी कहा जाता है।[३] काव्य में परस्थ रस की प्रतिपत्ति होती है और यह चित्तधर्म रूप होने एवं चित्तधर्म के अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होती है। अतः परस्थ रस की यह परोक्ष प्रतीति उसके नान्तरीयक अर्थात् अविनाभूत कार्यरूप अनुभावों के माध्यम से ही होती है।[४]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार सामाजिकों के मनोरञ्जन के लिये अनुकार्यगत विभाव आदि के अनुकरण में प्रवृत्त नट में रसाभाव होने पर भी स्तम्भ आदि अनुभावों की प्राप्तिवश यह आशङ्का व्यर्थ है कि यह रस के नान्तरीयक नहीं होते। वस्तुतः नटगत अनुभाव सामाजिकस्थ रस के जनक होने से उसके कारण ही होते हैं, कार्य नहीं। सामाजिकगत अनुभावों को ही तद्गत रस का बोधक होने से कार्य कहा जायेगा।[५]

वास्तव में लौकिक जीवन में स्त्री, पुरुष एवं नट और काव्यगत रोमाञ्च आदि अनुभाव सामाजिक में रस के जनक होने से विभाव ही होते हैं तथा इसके विपरीत प्रेक्षक, श्रोता एवं अनुसन्धाता में स्थित होने पर इनको अनुभाव ही कहा जायेगा, क्योंकि तब यह प्रेक्षक आदि में स्थित रस के नान्तरीयक होंगे।[६]

रस-परिभाषा के अवसर पर कथित 'व्यभिचारी' शब्द से रामचन्द्र-गुणचन्द्र का आशय सामाजिकगत व्यभिचारी भावों से है, अनुकार्य या अनुकर्तागत व्यभिचारियों से नहीं।[७] रस के

---

१. पूर्वोक्त ४।४३-४५।

२. हेतु हेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षा दर्शितो न कार्यकारणभावाभिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात्। धनिकवृत्ति (दश०) पृ० ३४९।

३. ना० द० ३।८।

४. इह तावत् सर्वलोक प्रसिद्धा परस्थस्य रसस्य प्रतिपत्तिः। सा च न प्रत्यक्षा, चेतोधर्माणामतीन्द्रियत्वात्, तस्मात् परोक्षा एव। परोक्षा च प्रतिपत्तिरविनाभूताद् वस्त्वन्तरात्। अत्र च रसे अन्यस्य वस्त्वन्तरस्यासम्भवात् कार्यमेवाविना कृतम्। विवृत्ति, ना० द० पृ० १४२।

५. परगत विभावाद्यनुक्रियायां च पररञ्जनार्थं प्रवृत्तस्य नटस्य रसाभावेऽपि स्तम्भस्वेदादयो भवन्तीति। नैषां रसान्तरीयकत्वमाशङ्कनीयम्। तेषां परगत रसजनकत्वेनाकार्यत्वात्, नटगता हि स्तम्भादयो प्रेक्षकगतरसानां कारणम्, प्रेक्षकगतास्तु कार्याणि। पूर्वोक्त पृ० १४२।

६. रोमाञ्चादयश्च ये स्त्री-पुंस-नट-काव्यस्थास्ते परेषां रसजनकत्वात् विभावमध्यवर्तिनः। प्रेक्षकश्रोत्रनुसन्धात्रादि स्थितास्तु रसस्य कार्याणि सन्तो व्यवस्थापकाः। विवृत्ति, पूर्वोक्त पृ० १४२।

७. अत्र च रत्यादेर्विभावैराविर्भूतस्य पोषकारिणो व्यभिचारिणो रसिकगता एव ग्राह्याः। पूर्वोक्त पृ० १४३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पोषक इन व्यभिचारीभावों के अभाव में रसास्वाद असम्भव है। नाट्यदर्पण के अनुसार स्त्री-चिन्ता-रूप व्यभिचारी के अभाव में शृङ्गार, धृति के अभाव में हास्य, विषाद के अभाव में करुण, अमर्ष के अभाव में रौद्र, हर्ष के अभाव में वीर, त्रास के अभाव में भय, शङ्का के अभाव में बीभत्स, औत्सुक्य के अभाव अद्भुत और निर्वेद के अभाव में शान्त रस का प्रादुर्भाव असम्भव है। अन्यत्र अथवा विरक्त चित्त वाले व्यक्ति को वाक्यार्थ-बोध अथवा स्त्री आदि के दर्शन होने पर भी इनके अभाव में रसास्वाद नहीं होता है। इनके अत्यन्त सूक्ष्म अथवा शीघ्रतापूर्वक घटित होने के कारण ही इनका यत्र-तत्र अभाव-सा दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः अनुकार्य एवं अनुकर्तागत व्यभिचारी तो सामाजिक के रसोद्बोधन में हेतुभूत होने से विभाव ही स्वीकार किये जायेंगे।[1]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस की द्विविध स्थिति को स्वीकार करते हैं—प्रथम, लोकगत रस और द्वितीय, काव्यगत रस। नियत विषयत्व और सामान्य विषयत्व भेद से यह लौकिक रसास्वाद पुनः दो प्रकार का होता है। नियत विषयत्व आस्वाद व्यक्तिविशेष तक सीमित होता है, क्योंकि इसमें लोक में वास्तविक रूप में स्थित सीता एवं राम आदि विभाव व्यक्तिविशेष में ही स्थित 'रति' आदि रूप स्थायीभाव को ही रसरूप में परिपुष्ट करते हैं। जब इन विभावों के द्वारा सामान्य रूप में अनेक व्यक्तियों के 'रति' आदि स्थायीभावों का रसरूप में पोषण होता है, तब यह रसास्वाद व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध न होने के कारण सामान्य विषयत्व कहलाता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार युवक के द्वारा रागवती युवती का आश्रय लेकर तत्सम्बद्ध अपनी 'रति' का शृङ्गार' के रूप में आस्वादन नियताविषयत्व है तो दूसरे में अनुरक्त वनिता का आश्रय लेकर सामान्य विषय 'रति' का उपचय सामान्य विषयत्व है। इसी प्रकार बन्धु शोक से खिन्न एवं रोती हुई युवती को देखकर सामान्य विषयक करुण रसास्वाद ही होता है। उनका स्पष्ट विचार है कि अन्य रसों के सम्बन्ध में भी विशेष एवं सामान्य विषयत्व द्रष्टव्य है।[2]

काव्यगत रस विशेष और सामान्य विषय-विभाग से रहित होता है। काव्य के द्वारा मात्र सामान्य रूप में रसोद्बोध होता है; क्योंकि काव्य एवं अभिनय के द्वारा अविद्यमान होने पर भी विद्यमान के सदृश प्रतीत कराये गये 'विभाव' श्रोता, अनुसन्धाता और प्रेक्षक के 'स्थायीभाव' को सामान्यरूपेण ही रसरूप में उद्बुद्ध करते हैं।[3]

नियत विषयत्व और सामान्य विषयत्व के अतिरिक्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र लोकगत और काव्यगत रस की दो अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार लोकगत रस स्वगत और

१. विवृत्ति, ना० द० पृ० १४३।

२. यत्र विभावाः परमार्थेन सन्तः प्रतिनियत विषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति। तत्र नियत विषयोल्लेखी रसास्वाद प्रत्ययः। युवा हि रागवतीं युवतिमवलम्ब्य तद्विषयामेव रतिं शृङ्गारतयाऽऽस्वादयति। यत्र तु परानुरक्तां वनितामवलम्ब्य सामान्यविषया रतिरूपचयमुपैति, तत्र न नियतविषयः शृङ्गाररसास्वादः, विभावानां सामान्यविषये स्थाय्यानिर्भाविकत्वात्। बन्धुशोकार्तां च रूदतीं स्त्रियमवलोक्य सामान्यविषय एव करुणरसास्वादः। एवमन्येष्वपि रसेषु विशेष-सामान्यविषयत्वं द्रष्टव्यम्। पूर्वोक्त पृ० १४२।

३. ये पुनरपरमार्थसन्तोऽपि काव्याभिनयाभ्यां सन्त इवोपनीता विभावास्ते श्रोत्रनुसन्धातृप्रेक्षकाणां सामान्यविषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति। अत्र च विषयविभागानपेक्षी रसास्वाद प्रत्ययः। पूर्वोक्त पृ० १४२-१४३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्ष होता है तथा काव्यगत रस परगत और परोक्ष होता है।[१] वस्तुतः नाट्यदर्पण का प्रस्तुत स्थल किञ्चित् अस्पष्ट-सा है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र यहाँ लोक, नट, काव्य के श्रोता, अनुसन्धाता और प्रेक्षक के रूप में रस के ५ आधारों का उल्लेख कर उनकी स्व-परता और प्रत्यक्ष-परोक्षता का निर्देश करते हैं। दोनों के मध्य स्पष्ट विभाजन उनके द्वारा नहीं किया गया। आचार्य विश्वेश्वर इनमें प्रथम ४ के रसास्वाद को स्वगत एवं प्रत्यक्ष कहते हैं तथा अन्तिम 'प्रेक्षक' को द्वितीय वर्ग में रखते हैं।[२] डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी ने भी आचार्य विश्वेश्वर का ही अनुसरण किया है।[३] वस्तुतः उनका यह दृष्टिकोण अनुचित प्रतीत होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र का अभिप्राय यहाँ लोकगत और काव्यगत रसास्वाद है। डॉ० ऋषि कुमार चतुर्वेदी का भी यही दृष्टिकोण है।[४]

तृतीय विशेषता के अनुसार लोकगत रस स्पष्ट तथा काव्यगत रस ध्यामल (अस्पष्ट) होता है। लोक में स्त्री-पुरुष आदि विभावों के वास्तविक एवं स्पष्ट होने के कारण रस एवं उससे उत्पन्न अनुभाव और व्यभिचारी भाव भी स्पष्ट होते हैं। काव्य में प्रदर्शित विभावों के अवास्तविक होने के कारण रस के सदृश ही व्यभिचारी एवं अनुभाव भी अस्पष्ट होते हैं और इस अस्पष्टता के आधार पर ही प्रेक्षक आदिगत रस लोकोत्तर कहा जाता है।[५]

अब प्रश्न उठता है कि सामाजिक को रसास्वाद किस प्रकार होता है? रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार अनुकर्ता द्वारा अनुकार्य को न देखे जाने पर भी कवि-निबद्ध राम आदि के चरित्र को पढ़कर एवं अत्यन्त अभ्यास के द्वारा स्वयं देखा-सा स्वीकार करके अभिनय के समय नट को यह अध्यवसाय हो जाता है कि स्वयं साक्षात् दृष्ट राम आदि का अनुमान कर मैं अनुकरण कर रहा हूँ। वस्तुतः अनुकर्ता राम का नहीं अपितु लोक-व्यवहार का अनुकरण करता है; क्योंकि स्वयं प्रसन्न होने पर भी राम आदि के रोने पर वह रोता है और स्वयं खिन्न होने पर भी राम आदि के प्रसन्न होने पर वह प्रसन्न होता एवं हँसता है।[६]

प्रेक्षक भी राम आदि विषयक शब्द-संकेतों के श्रवण और अत्यन्त हृदय संगीत के कारण विवश हो जाता है तथा स्वरूप, देश एवं काल का भेद होने एवं अनुकर्ता के अनुकार्य न होने पर

---

१. तदेवं स्व-परयोः प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यां गमः सुख-दुःखात्मा लोकस्य नटस्य काव्यश्रोत्रनुसन्धात्रोः प्रेक्षकस्य च रसः। पूर्वोक्त पृ० १४३।

२. हि० ना० द० पृ० ३०१।

३. संस्कृत-नाट्य-सिद्धान्त पृ० १५६।

४. रस-सिद्धान्त, डॉ० ऋषि कुमार चतुर्वेदी, पृ० १२४।

५. केवलं मुख्यस्त्री-पुंसयोः स्पष्टेनैव रूपेण रसो विभावानां परमार्थसत्त्वादत एव व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसजन्याः तत्र स्पष्टरूपाः। अन्यत्र तु प्रेक्षकादौ ध्यामलेनैव रूपेण विभावानाम परमार्थसतामेव काव्यादिना दर्शनात्। अतएव व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसानुसारेणास्पष्टा एव। अतएव प्रेक्षकादिगतो रसो लोकोत्तर इत्युच्यते।.......विवृति, ना० द० पृ० १४३।

६. रामादेरनुकार्यस्य नटेन प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टत्वात्। अनुकर्ता ह्यनुकार्यमदृष्ट्वा नानु कर्तुमलम्। प्रेक्षकोऽपि चादृष्टानुकार्यो नानु कर्तुरनुकर्तृत्वमनुमन्यते। तद्यं नटो रामादेश्चरितं कविनिबद्धमधीत्यात्यन्ताभ्यासवशतः स्वयं दृष्टमनुमन्यमानोऽनुकरोमीत्यध्यवस्यति, परमार्थस्तु लोकव्यवहारमेवायमनुवर्तते। प्रहृष्टोऽपि हि रामेण रुदिते रोदिति, न तु हसति। विषण्णोऽपि च हसिते हसति न तु रोदितीत्यादि। पूर्वोक्त पृ० १६७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी आंगिक आदि चतुर्विध अभिनय के कारण मूल स्वरूप के आच्छादित हो जाने से तथाभूत-से अनुकर्ता में अनुकारी राम आदि का अध्यवसाय कर लेता है। इस अध्यवसाय के कारण ही वह राम आदि की सुख-दुःखात्मक अवस्थाओं में तन्मय हो जाता है।[1]

कवि त्रिकालदर्शी ऋषियों के ज्ञान के द्वारा निश्चयपूर्वक राम आदि का नाटक आदि में निबन्धन करते हैं। मुनियों के प्रति विश्वास के कारण सामान्यजन कवि-निबन्धित उन चरित्रों में भी विश्वास कर लेते हैं। अतः प्रेक्षकों द्वारा कवि निबद्ध रूप में नट का दर्शन साक्षात् अनुकार्य राम आदि का दर्शन ही होता है। वस्तुतः वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में चर्म-चक्षुओं से देखने वाले सामान्य जन तो भ्रान्त हो सकते हैं, ज्ञान-दृशा ऋषि नहीं। इसलिये साक्षात् दर्शन से भी अधिक जाने गये मुनि-ज्ञान द्वारा दृष्ट अर्थ का वास्तविक रूप में अनुकरण करने वाले नट का निराकरण करने में दुर्विदग्ध बुद्धि प्रेक्षक असमर्थ होते हैं। उन्होंने राम आदि को देखा हो अथवा न देखा हो, परन्तु नट में उन्हें रामादि का अध्यवसाय हो ही जाता है। इसके विपरीत रामादि की अवास्तविकता का ज्ञान होने पर वह रामादि की सुख-दुःख पूर्ण अवस्थाओं में तन्मय नहीं हो सकते हैं। नट में राम आदि का अध्यवसाय रूप भ्रान्ति से भी प्रेक्षक में शृङ्गार आदि रसों का उन्मेष होता है; क्योंकि स्वप्न में कामिनी, वैरी एवं चोर आदि को देखने वाले एवं रस के चर्मोत्कर्ष को प्राप्त पुरुष में भी स्तम्भ आदि अनुभाव देखे जाते हैं। अतः प्रेक्षक की रसानुभूति में इस तर्क को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।[2]

काव्य में वर्णित सीता के प्रति राम के शृङ्गार का नट द्वारा अनुकरण किये जाने पर सामाजिकों में सीता विषयक शृङ्गार का समुल्लास नहीं होता है। काव्य में सीता आदि के द्वारा अपने विशिष्ट स्वरूप का परित्याग कर दिये जाने के कारण सामाजिकों को यह रसास्वाद सामान्य स्त्री विषयक ही होता है। काव्य की यह प्रकृति लोक से सर्वथा भिन्न है। काव्य के सदृश लोक में भी यदि सीता आदि विभाव विद्यमान न हों तब भी एतद्विषयक स्मृति के आधार पर नियत-विषयक रसास्वाद ही होता है, सामान्य विषयक नहीं। सामान्य रूप में होने वाला यह रसास्वाद परस्पर बाधक नहीं होता है।[3]

परस्पर तुलना और आलोचना :—धनञ्जय मूलतः रस-प्रक्रिया का व्याख्यान करते हैं और इसी प्रवाह में यत्र-तत्र प्रयुक्त शब्दों के माध्यम से अप्रत्यक्षरूपेण उनके रसस्वरूप विषयक दृष्टिकोण का भी किञ्चित् आभास हो जाता है। इसके विपरीत रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस-स्वरूप एवं प्रक्रिया

---

१. प्रेक्षकोऽपि रामादिशब्दसंकेत श्रवणादति हृदयसंगीतकाहितवैवश्याच्च स्वरूप-देश-कालभेदेन तथाभूतेष्वप्यभिनय चतुष्ट्याच्छादनात् तथाभूतेष्विव नटेषु रामादीनाध्यवस्यति। अतएव तासु-तासु सुख-दुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु तन्मयो भवति। पूर्वोक्त पृ० १६७।

२. विवृत्ति, ना० द० पृ० १६७-६८।

३. न हि रामस्य सीतायां शृङ्गारेऽनुक्रियमाणे सामाजिकस्य सीताविषयः शृङ्गारः समुल्लसति, अपितु सामान्यस्त्रीविषयः। नियतविषयस्मरणादिना स्थायिनः प्रतिनियत विषयतायां तु प्रतिनियतविषय एव रसास्वादः। तथा परमार्थसतामभिनयकाव्यार्पितानां न विभावानां बहुसाधारणत्वाद् य एकस्य रसास्वादः सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मेत्ययोगव्यवच्छेदेन, न पुनरन्ययोगं व्यवच्छेदेन। पूर्वोक्त पृ० १४३।

१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों का निरूपण करते हैं। वास्तव में रस-निष्पत्ति की अपेक्षा रस-स्वरूप का उन्होंने अधिक सविस्तार विवेचन किया है। तथ्यात्मक दृष्टि से धनञ्जय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रस-विषयक अवधारणाओं में साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि परवर्ती आचार्यों और वर्तमान आलोचकों द्वारा भी किसी सम्पूर्ण विचारधारा को आधिकारिक रूप में स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकी, तथापि मुख्यतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने परम्परा से भिन्न अनेक नवीन तथ्यों का उन्मेष किया।

धनञ्जय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र की यदि रसविषयक अवधारणाओं का विहङ्गावलोकन किया जाये तो स्पष्टतः दोनों दो भिन्न पृष्ठभूमियों पर आधारित प्रतीत होती हैं और तात्त्विक रूप में यही पृष्ठभूमियाँ उनमें दृष्टिगत अन्य विभिन्नताओं के मूल में सक्रिय रही हैं। धनञ्जय का रस-विवेचन दार्शनिकता से अनुप्राणित रहा है और इसके विपरीत रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रस विषयक सम्पूर्ण विचारधारा लौकिक धरातल पर आधारित है। उन्होंने यद्यपि रस की लोकोत्तरता का कथन अवश्य किया है, तथापि यह लोकोत्तरता दार्शनिक लोकोत्तरता से पूर्णरूपेण भिन्न एवं पृथक् है। वे धनञ्जय की समस्त रसों की सुखात्मकता की मान्यता की भी कटु आलोचना करते हैं। धनञ्जय सम्मत रस की वाक्यार्थरूप सत्ता भी उनको अभिप्रेत नहीं है। इसी प्रकार रसों की सुख-दुःखात्मकता, रस का लोकगत एवं काव्यगत तथा नियत-विषयत्व एवं अनियत विषयत्व के रूप में इनका पुनर्विभाजन और लोकगत रस की स्वगतता एवं प्रत्यक्षता तथा काव्यगत रस की परगतता, परोक्षता एवं ध्यामलता आदि रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनेक मन्तव्य धनञ्जय और उनके दशरूपक की मूल प्रकृति के विपरीत प्रतीत होते हैं।

धनञ्जय का रस-विवेचन दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित है। उनके द्वारा भावकत्व व्यापार की स्वीकृति और आत्मानन्द से उत्पन्न स्वाद के रूप में रस का निर्देश इस तथ्य को पुष्ट करते हैं। अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के सदृश वह भी तात्पर्याख्या वृत्ति को स्वीकार करते हैं। रस-सूत्र को दर्शन के आधार पर व्याख्यायित करने का सर्वप्रथम प्रयास भट्ट नायक के दृष्टिकोण में परिलक्षित होता है तथा इसकी पराकाष्ठा शैवाद्वैतवादी अभिनवगुप्त के विचारों में। अभिनवगुप्त और धनञ्जय का व्यक्तित्व लगभग समकालिक है। अतः उनके रस-विषयक विचारों में दार्शनिकता के सम्मिश्रण को तात्कालिक प्रवृत्ति का ही द्योतक कहा जा सकता है। सम्पूर्ण नाट्यशास्त्रीय परम्परा में मात्र रामचन्द्र-गुणचन्द्र ही ऐसे एकांकी विद्वान् रहे हैं, जिन्होंने रस के इस परम्परागत एवं सर्वमान्य दार्शनिक आवरण को छिन्न-भिन्न कर उसको व्यावहारिक एवं लौकिक धरातल से सम्बद्ध करने का अपूर्व साहसिक एवं श्लाघ्य प्रयास किया।

वस्तुतः यदि नाट्यशास्त्र की भट्ट लोल्लट प्रभृति कृत परवर्ती व्याख्याओं पर दृष्टिपात किया जाये तो हम धनञ्जय की रस से सम्बद्ध अवधारणा को भट्ट नायक की व्याख्या के सर्वाधिक निकट पाते हैं। पी० वी० काणे ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है[1]। यद्यपि भट्टनायक का वर्तमान समय में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं है, तथापि अभिनवभारती सहित परवर्त्ती अनेक ग्रन्थों में उनके विचारों को प्रस्तुत किया गया है। भट्टनायक के अनुसार काव्य दोषों के अभाव एवं गुणों के सद्भाव और नाट्य में वाचिक आदि चतुर्विध अभिनय से निज निविड मोह सङ्कटता के निवारक

१. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स : पी० वी० काणे, पृ० २४८।

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org

विभाव आदि के साधारणीकृत हो जाने से अभिधा से भिन्न भावकत्व व्यापार के द्वारा रस भाव्यमान होता है। अनुभव एवं स्मृति आदि से विलक्षण, रजो एवं तमोगुण के अनुवेध से उत्पन्न विचित्रता के कारण द्रुति, विस्तार एवं विकास रूप सत्त्व के उद्रेक से प्रकाशमय, आनन्दमय एवं निजसंविद्वि-श्रान्ति रूप परब्रह्मास्वाद साविद्य भोजकत्व व्यापार से इनका भोग किया जाता है[१]।

व्यञ्जना का विरोध, अभिधा एवं भावकत्व व्यापार की स्वीकृति, रस एवं काव्य में भाव्य-भावकभाव सम्बन्ध स्वीकार करना, रस की आनन्दात्मकता, विभाव आदि का साधारणीकरण और रसाश्रय के रूप में सामाजिक का कथन आदि तथ्यों के सम्बन्ध में धनञ्जय और भट्टनायक परस्पर सहमति रखते हैं। इसके विपरीत दोनों आचार्यों के दृष्टिकोणों में कतिपय विभिन्नताएँ भी हैं, यथा—धनञ्जय द्वारा भोजकत्व व्यापार की अस्वीकृति, तात्पर्यवृत्ति के आधार पर वाक्यार्थ रूप रस की सत्ता-स्वीकृति, रस-स्वरूप के सम्बन्ध में रजो एवं तमो गुण तथा सत्त्वोद्रेक से उसकी प्रकाशमयता का कथन न करना, अनुकर्त्ता में भी रस की सम्भावना और सहृदय निष्ठ रस की स्पष्ट स्वीकृति आदि।

भट्टनायक के सम्बन्ध में डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त यह सिद्ध करते हैं कि उनका यह भावकत्व-व्यापार मीमांसा दर्शन पर आधारित है[२]। अतः भावकत्व व्यापार की स्वीकृति के कारण धनञ्जय को भी इसका अपवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः मीमांसा में क्रिया को 'भावना' के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है, और 'भावना' शब्द का प्रयोग दशरूपक में भी प्राप्त होता है[३]। साध्य की सिद्धि के अनुकूल व्यापार को 'भावना' कहा जाता है[४]। शाब्दी एवं आर्थी रूप द्विविध 'भावना' में साध्य, साधन और इति कर्तव्यता अपेक्षित होते हैं। काव्य और नाट्य के प्रसङ्ग में रस साध्य, काव्य-भावना साधन और गुण, अलङ्कार, औचित्य एवं चतुर्विध अभिनय आदि इति कर्त्तव्यता के अन्तर्गत परिगणित किये जायेंगे[५]। अतः धनञ्जय के रस-सिद्धान्त को अधिकांशतः मीमांसा दर्शन पर आधारित स्वीकार किया जा सकता है। अधिकांशतः इस अर्थ में कि उन्होंने रस के आनन्दमयत्व को स्वीकार किया है तथा उसको आत्मानन्द से उत्पन्न स्वाद भी कहा है। मीमांसा दर्शन में आत्मा की आनन्दात्मकता का निषेध किया गया है[६]। वस्तुतः मीमांसा दर्शन में परस्पर विरोधी अनेक विचार धारायें हैं। भाट्टों का एक पक्ष मुक्तावस्था में आत्मा की आनन्दा-

---

१. तस्मात्काव्ये दोषाभाव गुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयेरूपेण निविडनिजमोहसङ्कटकारिणा विभावादिसाधारणी करणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन रजस्तमोऽनुवेध वैचित्र्य बलाद् द्रुतिविस्तार विकास-लक्षणेन सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वाद सविधेन भोगेन परं भुज्यत इति। अभि० भा० (ना० शा० भाग–१) पृ० २७७।

२. रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ० १४९।

३. काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥ ४।४२ दश०

४. भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापार विशेषः। रसगङ्गाधार का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १४९ से उद्धृत।

५. साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० ६९।

६. भारतीय दर्शन पृ० ३३४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्मिका अवस्था को स्वीकार करता है[१]। अतः सम्भव है कि धनञ्जय भी भाट्टों के इसी सम्प्रदाय के समर्थक और पोषक रहे हों। यदि यही वस्तुस्थिति है तो धनञ्जय के मीमांसक होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता है और यही सत्य भी प्रतीत होता है। डॉ० श्रीनिवास शास्त्री भी स्पष्टरूपेण धनञ्जय के रस-सिद्धान्त को मीमांसा के आधार पर परिकल्पित स्वीकार करते हैं[२]।

धनञ्जय के विपरीत रामचन्द्र-गुणचन्द के रस-विवेचन में किसी भी दार्शनिक पृष्ठभूमि का नितान्त अभाव दृष्टिगोचर होता है। पूर्वाग्रह के अभाव के कारण ही वह यथार्थवादी और लौकिक भावना से अनुस्यूत है तथा इसी आधार पर वह आचार्य भरत के मूल मन्तव्य के सर्वाधिक निकट भी प्रतीत होता है। पूर्ववत् यदि भरत के रस-सूत्र के व्याख्याताओं की टीकाओं पर विचार करें तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र का विवेचन भट्ट लोल्लट की विचार धारा से पर्याप्त साम्य रखता है।

आचार्य भरत के रस-सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में भट्टलोल्लट का विचार है कि स्थायीभाव के साथ विभाव आदि के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। विभाव चित्तवृत्ति रूप स्थायी को उत्पत्ति मे कारणभूत हैं। रसजन्य अनुभाव इस प्रसङ्ग में विवक्षित नहीं हैं, क्योंकि वह स्वयं रस से उत्पन्न होने के कारण उसके कारण नहीं हो सकते। आलम्बन विभाव के अनुभाव ही कारण के रूप में विवक्षित हैं। व्यभिचारीभाव यद्यपि चित्तवृत्यात्मक होने से स्थायीभाव के सहभावी नहीं हो सकते तथापि उनका वासनात्मक रूप ही यहाँ अभीष्ट है। भरत द्वारा प्रदत्त दृष्टान्त में भी व्यञ्जन आदि के मध्य किसी भी स्थायी के सदृश वासनात्मक और किसी भी व्यभिचारी ने सदृश अद्भुत स्थिति होती है। इसलिये विभाव और अनुभाव आदि से उपचित स्थायी ही रस होता है। अपरिपुष्ट ही स्थायी भाव कहा जाता है। यह रस मुख्यतः अनुकार्य राम आदि में और अनुसन्धान बल से अनुकर्ता में होता है।[३]

कतिपय विद्वान् भट्टलोल्लट और उसके रस-विवेचन पर भी दर्शन को आरोपित करते रहे हैं। वामन झलकीकर उनको भट्टमतोपजीवी मीमांसक[४], आचार्य विश्वेश्वर उत्तर मीमांसक अर्थात् वेदान्ती[५], और डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय शैव[६] कहते हैं। डॉ० तारकनाथ बाली उनको

---

१. दुःखात्यन्तमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः॥ मानमेयोदय। भारतीय दर्शन, पृ० ६३५ से उद्धृत।

२. दश०—भूमिका : डा० श्रीनिवास शास्त्री, पृ० ३५-३६।

३. अत्र भट्टलोल्लट प्रभृतयस्यावदेयं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रस-निष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाप्यात्मिकायाः उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या तत्र विवक्षिताः। तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपितु भावनामेव येऽनुभावाः। व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वाद् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः। दृष्टान्तेऽपि व्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद् वासनात्मकता स्थापिवत्। अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरूपचितो रसः। स्थायी भवत्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्त्या रामादौ अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्—इति। अभि० भा० (ना० शा० भाग-१) पृ० २७२।

४. बालबो० (का० प्र०-वामन झलकीकर) पृ० २२५।

५. का० प्र० पृ० १०१-१०२।

६. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एस्थेटिक्स पृ० २८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असत्कार्यवाद से सम्बद्ध करते हैं[1]। पी० वी० काणे ने उनको पूर्व मीमांसक कहा है[2]। वास्तव में पुष्ट प्रमाणों और तथ्यों के अभाव में इन पूर्वाग्रहों को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से भट्टलोल्लट की व्याख्या किसी दार्शनिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त प्रतीत नहीं होती है, प्रत्युत आचार्य भरत के मूल मन्तव्य के अनुरूप व्यवहारवादी दृष्टिकोण पर प्रतिष्ठित है। इस तथ्य का समर्थन अनेक विद्वानों ने भी किया है। डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त[3], डॉ० नागेन्द्र[4], डॉ० ऋषिकुमार चतुर्वेदी[5] और डॉ० रामलखन शुक्ल[6] का नाम इस दृष्टि से प्रस्तुत किया जा सकता है।

डॉ० ऋषि कुमार चतुर्वेदी[7] और डॉ० रामलखन शुक्ल[8] का विचार है कि लोल्लट का अनुकार्य से तात्पर्य कवि-निबद्ध पात्रों अथवा यों कहें कि सम्पूर्ण नाट्यकृति से ही था। वस्तुतः उनका आशय लौकिक राम आदि से ही था, कवि-निबद्ध राम आदि से नहीं, क्योंकि अपने सत्तात्मक अभाव के कारण कवि-निबद्ध पात्रों में रस की सत्ता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। अपने यथार्थवादी एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के कारण वह लौकिक अनुकार्य और कवि-निबद्ध अनुकार्य में अन्तर अनुभव नहीं कर सके। वास्तव में इस आक्षेप के आधार पर भी ऐसा स्वीकार करने पर रस का स्वरूप लौकिक हो जायेगा, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भट्टलोल्लट का रस का विवेचन लौकिक धरातल पर ही अभीष्ट था, अलौकिक धरातल पर नहीं। अतः उनकी दृष्टि में लौकिक अनुकार्य ही प्रत्यक्ष रस का वास्तविक भोक्ता है और आश्रय भी। अनुकर्ता और सामाजिक की वासना भी उनको मान्य है, तथापि इनकी रस विषयक प्रत्यक्षानुभूति उनको स्वीकार्य नहीं है। यही भट्टलोल्लट और रामचन्द्र-गुणचन्द्र में आधारभूत मौलिक साम्य है।

नाट्यदर्पण में स्पष्टरूपेण राम आदि लौकिक अनुकार्य को भी रस का आश्रय स्वीकार किया गया है। लौकिक रस को स्पष्ट स्वीकृति देने वाले रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रथम संस्कृताचार्य हैं। इसी आधार पर वे रस का ल.कगत और काव्यगत तथा नियत विषयत्व एवं अनियत अर्थात् सामान्य विषयत्व के रूप में पुनः द्विधा विभक्तिकरण करते हैं। वे भी लोकगत रस को प्रत्यक्ष एवं स्वगत कहते हैं। काव्यगत रस उनकी दृष्टि में परोक्ष और परगत है। सामाजिक को होने वाली रसानुभूति को भी वे परोक्ष ही स्वीकार करते हैं, प्रत्यक्ष नहीं। भट्टलोल्लट के ही समान अनुकर्ता की भी रसानुभूति का वे कथन करते हैं। धनञ्जय भी यहाँ इस विचार धारा के समर्थक हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र की अनुभाव के स्वरूप-विवेचन की पद्धति पर भी भट्टलोल्लट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। लौकिक प्रेम आदि को प्रत्यक्ष रस के रूप में स्वीकृत रूप आधारभूत

---

१. रस-सिद्धान्त का दार्शनिक तथा नैतिक विवेचन पृ० ३७। (उपर्युक्त दोनों उद्धरण डॉ० नगेन्द्र के रस-सिद्धान्त के पृ० १४९ से उद्धृत।)
२. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स—पी० वी० काणे, पृ० ५१।
३. रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ० १२६।
४. रस-सिद्धान्त : डॉ० नगेन्द्र पृ० १५०।
५. रस-सिद्धान्त : डॉ० ऋषि कुमार चतुर्वेदी पृ० ५८।
६. साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० ३७।
७. रस-सिद्धान्त : डॉ० महर्षिकुमार चतुर्वेदी पृ० ५९।
८. साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० २३, ३५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साम्य के अतिरिक्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र भट्टलोल्लट से भिन्न अन्य नवीन तथ्यों का भी प्रतिपादन करते हैं। भट्टलोल्लट रस के तीन आधारों का कथन करते हैं—अनुकार्य, अनुकर्ता और सामाजिक। रामचन्द्र-गुणचन्द्र इनमें काव्य के श्रोता और अनुसन्धाता को भी सम्मिलित कर इनका क्षेत्र और अधिक विकसित कर देते हैं। लौकिक रस की स्वीकृति का बीज यद्यपि उन्होंने भट्टलोल्लट से ग्रहण किया है, तथापि उसको पूर्ण स्पष्टता के साथ स्वीकार करने तथा पल्लवित करने का श्रेय उनको ही प्राप्त होता है। लौकिक एवं काव्यिक रस में नियत विषयत्व एवं अनियत विषयत्व, प्रत्यक्षता एवं परोक्षता, स्वगतता एवं परगतता और श्यामलता आदि के रूप में उसका अधिक सूक्ष्म एवं वर्गीकृत विवेचन प्रस्तुत कर वे भट्टलोल्लट की परम्परा को लक्ष्योन्मुखी गतिशीलता प्रदान करते हैं।

अब धनञ्जय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र की वैयक्तिक रस-विषयक मान्यताओं की ओर दृष्टिपात करते हैं। सर्वप्रथम धनञ्जय द्वारा तात्पर्यशक्ति के विस्तृत विषय-क्षेत्र के आधार पर व्यञ्जना की अस्वीकृति पर विचार करें। वस्तुतः इस सम्बन्ध में धनिक धनञ्जय द्वारा मात्र संकेतित मन्तव्य का विस्तृत व्याख्यान करते हैं। अतः यहाँ धनिक के एतत्सम्बद्ध विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत करना अप्रासङ्गिक एवं अनुचित न होगा।

धनिक का अभिमत है कि समस्त वाक्यों के कार्यपरक होने से काव्य के वाक्यों का कार्य आनन्दानुभूति ही सिद्ध होता है। काव्य के शब्दों की प्रवृत्ति के विषय के प्रतिपादक विभाव आदि के होने के कारण यह आनन्दानुभूति में निमित्तभूत होते हैं। अतः यही तात्पर्यार्थ के रूप में विभिन्न रसों का प्रतिपादन करते हैं। अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न कोई शब्द-शक्ति नहीं है। तात्पर्यशक्ति की कोई परिमित सीमा नहीं है। प्रवृत्ति-निवृत्ति-बोध रूप कार्य पर्यन्त ही इसका विस्तार अथवा प्रसार होता है। वस्तुतः वक्ता के विवक्षित अर्थ पर्यन्त तात्पर्य का पर्यवसान होता है।[1]

अतः स्पष्ट है कि धनिक तथा उसके अनुरूप धनञ्जय भी तात्पर्यवृत्ति के क्षेत्र को व्यञ्जना पर्यन्त विस्तृत कर उसको इसमें ही अन्तर्मुक्त कर लेते हैं। निश्चितरूपेण उनकी यह तात्पर्यवृत्ति कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों की संकुचित और मर्यादित तात्पर्यवृत्ति से पर्याप्त भिन्न है। यह धनञ्जय का मौलिक चिन्तन एवं नवीन दृष्टि है। मीमांसा साहित्य को वास्तव में उनका ऋणी होना चाहिए।

सच पूछा जाये तो धनञ्जय की इस तात्पर्यवृत्ति और ध्वनिवादियों की व्यञ्जनावृत्ति में कोई मौलिक भेद नहीं है। यदि धनञ्जय कुमारिल द्वारा प्रतिपादित तात्पर्यवृत्ति में ही व्यंग्यार्थ के अन्तर्भाव का प्रयत्न करते तो उनकी सफलता सन्दिग्ध थी, किन्तु उसको व्यापक स्वरूप देकर उसमें समस्त ध्वनिप्रपञ्च को अन्तर्भूत करने में वह सफल प्रतीत होते हैं। इस प्रकार वह मीमांसा सम्प्रदाय की अपेक्षा ध्वनिसम्प्रदाय के अधिक निकट आ गये हैं। यहाँ तक कि यदि उनके द्वारा प्रतिपादित तात्पर्यवृत्ति को ही व्यञ्जनावृत्ति कह दिया जाये तो कोई तात्त्विक अन्तर नहीं पड़ेगा।[2]

---

१. धनिक-वृत्ति (४।२१०) पृ० ३३४-३३९।

२. रस-सिद्धान्त : इतिहास और मूल्यांकन पृ० १८०-१८१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य मम्मट ने तात्पर्यवाद का खण्डन करने के लिए उसकी मूलभूत मान्यता 'यावत्कार्य प्रसारिता' की कल्पना पर ही प्रहार किया है, किन्तु उनका यह कथन कुमारिल द्वारा प्रतिपादित तात्पर्यवाद को लेकर ही प्रेरित है। धनञ्जय एवं धनिक ने तात्पर्य की मीमांसा शास्त्र निबद्ध कल्पना को उदार बनाकर इतना विस्तृत कर दिया है कि उसमें व्यञ्जनावादियों के निखिल प्रपञ्च का अन्तर्भाव हो जाता है तथा व्यञ्जना और तात्पर्य एक ही हो जाते हैं[1]।

परन्तु डॉ० नरेशचन्द्र पाठक के उपर्युक्त विचारों के सन्दर्भ में भी धनञ्जय के इस मन्तव्य को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उनकी दृष्टि में वाच्यार्थ पदार्थ स्थानीय और व्यङ्ग्यार्थ वाक्यार्थ स्थानीय है। वास्तव में पदार्थ-वाच्यार्थ और वाच्यार्थ-व्यङ्ग्यार्थ की प्रकृति परस्पर नितान्त भिन्न है। वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ में पदार्थ-वाच्यार्थ-न्याय घटित नहीं होता है[2]। तात्पर्य यह है कि पदार्थ-वाक्यार्थ में घटतदुपादानकारण-न्याय होता है अर्थात् जिस प्रकार घट के ज्ञान के समय कपाल-द्वय रूप उसके उपादन कारण की पृथक्-पृथक् प्रतीति नहीं होती है, उसी प्रकार वाक्यार्थ-बोध के समय परस्पर अनन्वित पदार्थ-बोध भी नहीं होता है; क्योंकि वाक्यार्थ-बोध के लिए पदार्थों की संयुक्त प्रतीति आवश्यक है, विपुल प्रतीति नहीं[3]। वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के सम्बन्ध में यह न्याय घटित नहीं होता है, क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ को प्रतीति के साथ-साथ वाच्यार्थ भी अवभासित होता है, दोनों की समकालिक सत्ता परस्पर विरोधी नहीं है। व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिए वाच्यार्थ की प्रतीति की साधनरूपता को आचार्य आनन्दवर्धन ने भी स्वीकार किया है[4]। अब यदि विभाव और रस के प्रसङ्ग में इस वस्तुस्थिति का अवलोकन करें तो स्वयं धनञ्जय का मत ही उनके विपरीत दृष्टिगत होता है; क्योंकि रस की अनुभूति के समय विभाव आदि की भी प्रतीति होती रहती है। इनके क्रमशः पदार्थ और वाक्यार्थ-स्थानीय होने के कारण दोनों की एक साथ होने वाली अनुभूति असङ्गत है। अतः रस को वाक्यार्थ-स्थापनीय स्वीकार नहीं किया जा सकता। रस वाक्यार्थ से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ ही है और वह तात्पर्यशक्ति का विषय नहीं है। उसके लिए व्यञ्जनावृत्ति की स्वीकृति अनिवार्य है।

भट्टनायक की आलोचना के प्रसङ्ग में आचार्य अभिनवगुप्त उनके भावकत्व व्यापार को व्यञ्जना से अभिन्न सिद्ध कर देते हैं। उनकी आलोचना को यथावत् धनञ्जय पर भी लागू किया जा सकता है। अभिनवगुप्त के अनुसार भावकत्व व्यापार का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, अपितु विविध रसों के उपयुक्त गुणों और अलङ्कारों में ही उसका भी परिग्रह हो जाता है। 'भावक' शब्द स्वयं 'उत्पन्न होना' अर्थवाली 'भू' धातु से निष्पन्न है। अतः काव्य को

---

१. रस-सिद्धान्त : इतिहास और मूल्याङ्कन पृ० १८१।

२. न च पदार्थवाक्यार्थन्यायोवाच्यव्यङ्ग्योः। ध्वन्या० (आ०) पृ० १०३९।

३. अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्। ४६।२।२ जैमिनीसूत्र।
ध्वनि-सिद्धान्त : विरोधी सम्प्रदाय—उनकी मान्यताएँ, पृ० ३०६ से उद्धृत।

४. यथा पदार्थ द्वारेण वाक्यार्थः संप्रतीयते।
वाच्यार्थ पूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥ १।१० ध्वन्या०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रसों का भावक कहना प्रकारान्तर से स्वयं ही उसके उत्पत्ति-पक्ष को स्वीकार करना है[1]। ध्यातव्य है कि स्वपक्ष की स्थापना से पूर्व स्वयं भट्टनायक रसोत्पत्ति का खण्डन करते हैं[2]। एक तथ्य यह भी है कि मात्र काव्य-शब्द ही रस के भावक नहीं होते; क्योंकि अर्थ के अज्ञान की स्थिति में यह सम्भव नहीं है और एकाकी अर्थ भी भावकत्व की सामर्थ्य से रहित होता है, क्योंकि उसके बोधक विभिन्न शब्दों के प्रयोग से भी रस-भावना नहीं होती है। अतः शब्द और अर्थ दोनों सम्मिलित रूप से रस के भावक होते हैं। इन दोनों के भावकत्व का तो स्वयं हमने भी कथन किया है कि जब शब्द अथवा अर्थ स्वयं को अथवा अपने अर्थ को गौण करके व्यङ्ग्यार्थ को प्रकट करते हैं, तब विद्वान् उस काव्य को ध्वनि कहते हैं। इसलिए गुण, अलङ्कार और औचित्य आदि इतिकर्त्तव्यता रूप व्यञ्जना-व्यापार के माध्यम से ही काव्य रसों को भावित करता है। अंशत्रयी भावना के करण नामक अंश में ध्वनन व्यापार ही होता है[3]। भावकत्व की ध्वनन व्यापार में अन्तर्भुक्ति के कारण धनञ्जय और धनिक की सम्पूर्ण मान्यता स्वयमेव ध्वस्त हो जाती है।

डॉ० रामलखन शुक्ल द्वारा कृत धनञ्जय की यह आलोचना भी उचित प्रतीत होती है कि उन्होंने कवि-कल्पना को स्पष्टतः स्वीकार कर लिया है और यह सिद्ध किया है कि सामाजिक की वासना को उद्रिक्त करने में वह सहायक सिद्ध होती है और परिणामस्वरूप सामाजिक अपनी ही वासना की रसरूप में चर्वणा करता है, किन्तु सामाजिक की वासना को स्पष्ट स्वीकृति देकर भी उन्होंने उसकी अभिव्यक्ति न मानकर बहुत बड़ी भूल की है। स्थायीभाव वासनारूप में प्रत्येक सामाजिक में अवस्थित रहते हैं। विभाव आदि उन्हीं स्थायी भावों को उद्रिक्त करते हैं और सामाजिक की चर्वणा स्वगत ही होती है। इस प्रकार यदि हम देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि रस की अभिव्यक्ति ही होती है। वह वाच्यार्थ के रूप में प्रतीत नहीं होता। उन्होंने काव्य को रस-वान् कह कर यह सिद्ध किया है कि यह लाक्षणिक प्रयोग है। उनका कहना है कि रसोद्रेक में काव्य सहायक भूततत्त्व है। वह वस्तुतः रसवान् नहीं होता, रसवान् तो सामाजिक होता है। इतना स्वीकार करने के बावजूद उन्होंने वाक्यार्थ में ही रस कैसे मान लिया ? यदि स्थायीभाव ही विभा-वादि से आस्वाद-योग्य बनाये जाते हैं और ये स्थायी भाव सामाजिक के हैं, जैसा कि धनञ्जय और धनिक ने स्वीकार किया है, तो उनकी मान्यता निश्चय ही उनके अपने मत के विपरीत पड़ती है,

---

१ भावकत्वमपि समुचित गुणालङ्कारपरिग्रहात्मकस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमितदपूर्वम्। काव्यं च रसान् प्रतिभावकमिति यदुच्यते तत्र भवतैव भावनादुत्पत्ति पक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। लो० (ध्वन्या० भाग १) पृ० ३१७।

२. भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभिव्यंज्यते। अभि० भा० (ना० शा० भाग—१) पृ० २७६।

३. न च काव्यशब्दानां केवलं भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तद्भावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणा-र्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्। यथार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः। ३।१ इत्यत्र। तस्माद् व्यञ्जकत्वारण्येन व्यापारेण गुणालङ्कारोचित्यादिकयेति कर्त्तव्यं तया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननेनैव नियतति। लो० (ध्वन्या० भाग—१) पृ० ३१६-३१७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि वाच्यार्थ का सम्बन्ध काव्य से है और काव्य में रस की निष्पत्ति नहीं होती। रस-रसना की निष्पत्ति तो सामाजिक में होती है[1]।

डॉ० रामलखन शुक्ल धनञ्जय द्वारा काव्यास्वयित सामाजिक के परिप्रेक्ष्य में मिट्टी आदि से निर्मित हाथी आदि क्रीडनक के साथ क्रीड़ारत तथा फलस्वरूप अपने उत्साह का ही आस्वादन करने वाले बालक के उदाहरण की आलोचना करते हैं और इस पर शङ्कुक के चित्र-तुरंग-न्याय का प्रभाव स्वीकार करते हैं[2]। इस सम्बन्ध में धनञ्जय की आलोचना करने से पूर्व हमको यह स्मरण रखना चाहिए कि इससे पूर्व पंक्ति में ही इसके हेतुभूत विभाव आदि के निर्विशेष स्वरूप की काव्य द्वारा प्रस्तुति का धनञ्जय कथन कर चुके हैं। अतः इस समय नायक आदि के सामान्य रूप के साथ सामाजिक के तन्मय हो जाने की अवस्था है। धनञ्जय इस उदाहरण के माध्यम से दो तथ्यों को स्पष्ट करना चाहते हैं। प्रथम, विभाव आदि के अवास्तविक होने पर भी काव्य द्वारा उपस्थापित उसके सामान्य स्वरूप के साथ सहृदय की तन्मयता और स्वस्थ आनन्द का ही उसके द्वारा आस्वादन। बालक जब कृत्रिम क्रीडनकों के साथ खेलता है, तब अबोधतावश वह उनको न तो वास्तविक हाथी-घोड़ा समझता है और न ही कृत्रिम। इन दोनों ही अवस्थाओं से मुक्त होकर वह उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। क्रीड़ा के समय उसको अपने ही उत्साह आदि की अनुभूति होती है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। धनञ्जय सहृदय के रसास्वाद को क्रीड़ारत बालक के सदृश नहीं कह रहे हैं, अपितु उपमा मात्र दे रहे हैं। सम्भवतः डॉ० शुक्ल को इसमें इसलिए भी अनौचित्य प्रतीत हुआ कि वह बालक के स्वोत्साहास्वादन को प्रौढ़ सामाजिक की दृष्टि से देखते हैं। वस्तुतः उसको भी उसी परिप्रेक्ष्य में अबोध बाल-दृष्टि से देखें तो यह अनौचित्य अनुचित ही प्रतीत होगा। डॉ० सुलेखचन्द्र शर्मा भी धनञ्जय द्वारा प्रदत्त इस उदाहरण की महत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह सहृदय के अनुभव-संसार तथा काव्य-परिवेश के अन्तःसम्बन्ध को क्रीड़ापरक अवधारणा के आधार पर विश्लेषित करती है[3]। यद्यपि धनञ्जय ने क्रीडावृत्ति में किसी दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ को अपनी अवधारणा के मूल में स्थापित नहीं किया है, किन्तु अनुकार्य के काव्योपहित स्वरूप के साथ प्रमाता के अन्तःसम्बन्ध की संकल्पना का एक विशिष्ट धरातल इस व्याख्या से उद्घाटित हुआ है[4]।

अब रामचन्द्र-गुणचन्द्र के मन्तव्य की ओर आलोचनात्मक दृष्टिपात करते हैं। सर्वप्रथम उनकी लौकिक प्रेम आदि की भी रस-रूप में स्वीकृति से सम्बद्ध अवधारणा का अवलोकन करें। वस्तुतः सुदीर्घ नाट्यशास्त्र परम्परा में किसी भी आचार्य द्वारा लोकगत रस की सत्ता-स्वीकृति का आग्रह नहीं किया गया। आपवादिक रूप में भट्टनायक का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है। तथ्यात्मक दृष्टिकोण से रामचन्द्र-गुणचन्द्र की इस मान्यता का समर्थन उचित प्रतीत नहीं होता है। लोक और नाट्य की प्रकृति सर्वथा भिन्न होती है। इस सम्बन्ध में डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी को उद्धृत करना अवसरानुरूप होगा। उनका कथन है कि मेरा एकमत्य उनसे बिल्कुल नहीं है जो यह मानते हैं

---

१. साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० १०८।

२. पूर्वोक्त पृ० १०९-११०।

३. अभिनवोत्तर संस्कृत-काव्य-शास्त्र में साधारणीकरण-विमर्श पृ० ४२।

४. पूर्वोक्त पृ० ४७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि व्यवहारोपयोगी या हानि-लाभोपयोगी व्यावहारिक सामग्री एवं रसात्मक परिणति प्रदान करने वाली रसोचित सामग्री की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए उनका मत भी नितान्त उपेक्ष्य है, जो रोज़मर्रा के सामान्य लौकिक अनुभवों से रसात्मक अनुभव का अन्तर स्वीकार नहीं करते[1]। लौकिक घटनाओं एवं साधन-सामग्री पर व्यक्ति का नियन्त्रण नहीं होता। उनको यथावत् रूप में व्यक्ति को स्वीकार करना ही पड़ता है। इसके विपरीत नाट्य-सामग्री स्वाधीन होती है—निर्माता कवि की दृष्टि से और ग्रहीता सहृदय की दृष्टि से भी। कहा भी गया है कि असीमित काव्य-संसार का प्रजापति कवि ही होता है और समस्त विश्व इसकी इच्छानुरूप ही परिवर्तित होता है[2]। अतः लोक और काव्य की प्रकृति की भिन्नता के आधार पर उससे उद्भूत रस की प्रकृति में भी अन्तर स्वीकार करना पड़ेगा। इसलिए रामचन्द्र-गुणचन्द्र की लोकगत और काव्यगत रस की अवधारणा को समान धरातल पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में काव्यिक रस की उदात्त अनुभूति के समक्ष रखना उसकी उदात्तता और गरिमा से च्युत करना है।

एक तथ्य यह भी आलोच्य है कि यद्यपि रामचन्द्र-गुणचन्द्र यह स्वीकार करते हैं कि लोकगत कार्य, हेतु एवं सहचारी को ही काव्य में क्रमशः अनुभाव, विभाव और व्यभिचारी कहा जाता है तथापि लोकगत रस के निरूपण के अवसर पर भी उन्होंने 'विभाव' आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है, हेतु आदि का नहीं[3]।

उत्कर्ष प्राप्त चित्तवृत्ति रूप स्थायीभाव को ही रस स्वीकार करने पर भी स्वयं उनके द्वारा काव्यगत रस को अप्रत्यक्ष एवं परगत तथा लोकगत रस को प्रत्यक्ष एवं स्वगत कहना विरोधाभासी वक्तव्य है। सम्भवतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र लौकिक रस को ही मूल रस स्वीकार करते हैं और काव्य में लोकगत कारण आदि की ही शाब्दिक विभाव आदि के रूप में उपस्थिति के आधार पर मूलतः अनुकार्य राम आदि की दृष्टि से इनकी परोक्षता और परगतता का कथन करते हैं। वस्तुतः चित्तवृत्त्यात्मक स्थायी भाव के सामाजिकस्थ होने और विभाव आदि के साधारणीकृत होने में इनके मूल अनुकार्य से असम्बद्ध हो जाने के कारण सहृदय की रसानुभूति को प्रत्यक्ष और स्वगत स्वीकार किया जाना चाहिए, परोक्ष एवं परगत नहीं। अतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र की एतद् विषयक मान्यता भी पूर्णतः अस्वीकार्य है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस की लोकोत्तरता का तो कथन करते हैं; परन्तु इस सम्बन्ध में दिया गया उनका तर्क विचित्र है। काव्यगत विभावों के अवास्तविक होने से सामाजिकस्थ अनुभावों और व्यभिचारियों की अस्पष्टता को इस लोकोत्तरता का आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता है। एक तथ्य यह भी ध्यातव्य है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र यहाँ रस को लोकोत्तर कहते हैं, अलौकिक नहीं। रस को सुख-दुःखात्मक रूप उभयात्मक प्रकृति के उद्घोषक होने के कारण वे अभिनवगुप्त आदि समस्त रस के अलौकिकत्व का समर्थन करने की स्थिति में नहीं हैं। अतः उनके द्वारा मान्य रस की

---

१. रस-विमर्श : पृ० ८७।

२. अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते॥ ध्वन्या (उत्त०) पृ० १२२९।

३. विवृत्ति, ना० द० पृ० १४२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकोत्तरता लोकगत रस से उसकी भिन्न प्रकृति का बोधमात्र कराती है तथापि उनकी यह लोकोत्तरता विषयक अवधारणा भी सर्वथा अग्राह्य है।

अब सामाजिक की रसानुभूति के सम्बन्ध में धनञ्जय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र के विचारों को तुलनात्मक दृष्टि से देखें। दोनों के विचारों में अन्तर परिलक्षित होता है। रूपक रचना के समय राम आदि वास्तविक अनुकार्य के उपस्थित न होने पर भी ऋषितुल्य कवि अपने ज्ञान-चक्षुओं से उनके दर्शन कर काव्य में उनका उपनिबन्धन करता है। इस प्रकार कवि-कल्पना और काव्य-निर्माण में उनके महत्त्व को धनञ्जय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र समानरूपेण स्वीकार करते हैं।

धनञ्जय की मान्यता है कि कवि निबद्ध अनुकार्य वास्तविक अनुकार्य से भिन्न होते हैं क्योंकि काव्य में कवि व्यक्ति-विशेष का नहीं अपितु उनकी धीरोदात्त आदि अवस्थाओं का ही चित्रण करता है। व्यक्तिगत वैचित्र्य से रहित ये अवस्थाएँ ही सामाजिकस्थ 'रति' आदि को भावित कर उसके रसास्वाद में निमित्तभूत होती हैं।[1] धनञ्जय ने यद्यपि भट्टनायक के 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया तथापि यहाँ वह अस्पष्टतः विभाव आदि के साधारणीकरण का ही कथन करते हैं। इसी प्रसङ्ग में यह भी ध्यातव्य है कि विभाव आदि के सदृश स्थायीभाव के साधारणीकरण का उल्लेख भट्टनायक के समान उन्होंने भी नहीं किया है। सम्भवतः धनञ्जय ने विभाव आदि के साधारणीकरण की अवस्था में स्थायीभाव के साधारणीकरण को सामान्य प्रक्रिया समझ कर अनिर्दिष्ट ही छोड़ दिया। डॉ० रामलखन शुक्ल के अनुसार विभाव आदि के साथ स्थायीभाव के साधारणीकरण की स्वीकृति अवश्य होनी चाहिए, अन्यथा रस किस आधार पर भाव्यमान होगा। काव्य-सौन्दर्य जब सामाजिक की चेतना को उत्तेजित कर देता है, उस समय काव्य-निहित भाव से सामाजिक का निजी भाव उद्‌बुद्ध हो जाता है और साधारणीभूत रूप में ही उसकी उद्‌बुद्धि होगी। सामाजिक के वासनारूप साधारणीभूत भाव की उद्‌बुद्धि ही रस के भावित होने में कारण होती है।[2] भट्टनायक के प्रसङ्ग में उनके द्वारा अनुक्त होने पर भी स्थायीभाव के साधारणीकरण को स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में गोविन्द ठक्कुर[3] और वामन झलकीकर[4] ने भी निर्दिष्ट किया है।

रसानुभूति की इस प्रक्रिया में रामचन्द्र-गुणचन्द्र कहीं भी धनञ्जय के सदृश विभाव आदि के साधारणीकरण को स्पष्ट रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि में तो इसके मूल में अध्यवसाय का भाव ही सक्रिय है। इसके भी दो चरण हैं। प्रथम तो अनुकर्ता का मूल अनुकार्य के साथ अध्यवसाय होता है और द्वितीय प्रेक्षक का। अनुकर्ता के अध्यवसाय में उसके द्वारा कविनिबद्ध चरित्र का पुनः-पुनः अध्ययन, अभिनय विषयक अत्यन्त अभ्यास और साक्षात्दृष्ट से मूल अनुकार्य के अनुकरण की भावना इसमें सहायक होती है। प्रेक्षक के अध्यवसाय में वास्तविक अनुकार्य से सम्बद्ध

---

१. दश० ४।४०-४१ पूर्वार्द्ध।

२. साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० १४२-१४३।

३. भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणी क्रियन्ते। पूर्वोक्त ग्रन्थ के पृ० १४२ से उद्धृत।

४. अन्य सम्बन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषांशपरिहारेणोपस्थापनं साधारणीकरणम्.... तदात्मना। भाव्यमानः साधारणी क्रियमाणः। बालबो० (का० प्र०—वामन झलकीकर) पृ० १०७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द-संकेतों के ज्ञान, अभिनय के समय शब्दायमान अत्यन्त हृदयहारी पार्श्व-संगीत और चतुर्विध अभिनय से उत्पन्न सजीवता निमित्तभूत होती है इस प्रकार प्रेक्षक अनुकर्ता में ही मूल अनुकार्य का अध्यवसाय कर उसके सुख-दुःख में तन्मय होकर उसकी सुख-दुःखात्मक अवस्थाओं का अनुभव करता है।[1] रामचन्द्र-गुणचन्द्र स्पष्टतः विभाव आदि रूप कवि-निबद्ध अनुकार्य का निर्विशेषीकरण अथवा सामान्यीकरण उस रूप में स्वीकार नहीं करते, जिस रूप में धनञ्जय को स्वीकार्य है और इस भ्रान्तिवश उनकी दृष्टि में तत्पश्चात् ही प्रेक्षक अनुकार्य के सुख-दुःख में तन्मयीभाव को प्राप्त हो जाता है।

वस्तुतः यदि रामचन्द्र-गुणचन्द्र के विचारों को दृष्टि में रखकर संस्कृताचार्यों की सम्पूर्ण परम्परा पर दृष्टिपात करें तो हम सहसा ही अन्तिम प्रौढ़ आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ पर रुक जाते हैं। जगन्नाथ स्पष्टरूपेण साधारणीकरण का विरोध कर तादात्म्य सिद्धान्त को स्थापित करते हैं। उनके अनुसार साधारणीकरण भी दोष विशेष की कल्पना के बिना सम्भव नहीं है। अतः साधारणीकरण और दोष विशेष रूप दो हेतुओं की स्वीकृति के स्थान पर भावना रूप के आधार पर प्रमाता की आश्रय के साथ अभेद-बुद्धि को स्वीकार करना ही अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता है।[2] इस प्रक्रिया में साधारणीकरण का सरलतया परिहार हो जाता है। इस दृष्टि से पण्डितराज जगन्नाथ को रामचन्द्र-गुणचन्द्र की परम्परा में रखा जा सकता है।

परन्तु यदि रसानुभूति के सम्बन्ध में रामचन्द्र-गुणचन्द्र की नियतविषयक और अनियत अर्थात् सामान्य विषयक अवधारणा का अवलोकन करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह साधारणीकरण व्यापार को स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनका स्पष्ट कथन है कि वास्तविक न होने पर भी काव्य एवं अभिनय के माध्यम से विद्यमान-से प्रतीत होने वाले विभाव अनुसन्धाता, प्रेक्षक और श्रोता के सामान्य स्थायीभाव को ही रस के रूप में उद्बुद्ध करते हैं। काव्य अथवा नाटक आदि में सीता के प्रति राम के श्रृंगारभाव का अनुकरण किये जाने पर सामाजिक में सीता विषयक श्रृंगार का समुल्लास नहीं होता है, अपितु उसको सामान्य स्त्री विषयक रसास्वाद ही होता है।[3] डॉ० के० एच० त्रिवेदी[4] और डॉ० सुलेखचन्द्र शर्मा[5] भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा साधारणीकरण-व्यापार की स्वीकृति का कथन करते हैं। निश्चित रूप से उनकी यह अवधारणा उनकी ही मूल अनुकार्य के साथ अध्यवसाय अथवा तादात्म्य की मान्यता के विरुद्ध प्रतीत होती है।

साधारणीकरण और मूल अनुकार्य के साथ तादात्म्य के विचारों पर यदि दृष्टिपात करें तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र को आचार्य विश्वनाथ की श्रेणी में रखा जा सकता है। विश्वनाथ भी साधारणीकरण और अनुकार्य से अभेद अर्थात् तादात्म्य को एक साथ स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार

१. विवृत्ति, ना द० पृ० १६७-१६८।

२. यद्यपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम्, तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादि प्रकाशकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषाविशेषकल्पनं विना दुरूपपादनम्। अतोऽवश्यकल्प्ये दोषविशेषे, तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा। रसगं० पृ० ११४।

३. विवृत्ति, ना० द० पृ० १४२-१४३।

४. दि नाट्यदर्पण ऑफ रामचन्द्र एण्ड गुणचन्द्र : ए क्रिटिकल स्टडी पृ० १४७।

५. अभिनवोत्तर संस्कृत-काव्यशास्त्र में साधारणीकरण-विमर्श पृ० ६५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधारणीकृत विभाव आदि के प्रभाव से ही प्रमाता हनुमान् आदि समुद्र-लङ्घन आदि रूप अलौकिक कार्यों के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और तब वह हनुमान् आदि के उत्साह आदि का अनुभव करने लगता है।[1] यहाँ विश्वनाथ के मत में यह आशङ्का सम्भव है कि साधारणीकृत होने पर तो हनुमान् आदि विशिष्ट नहीं अपितु सामान्य हो जाते हैं, तब पुनः उनके विशिष्ट रूप के साथ प्रमाता अभेद सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित कर सकता है।

रामचन्द्र पुरी इस विरोधाभास का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो विश्वनाथ का साधारणीकरण से तात्पर्य यही था कि प्रमाता के लिए नाट्य-काव्य निबद्ध पात्रों का साधारणीकरण हो जाता है अर्थात् रामादि अलौकिक पात्र प्रमाता आदि के लिए अगम्य नहीं रह जाते। वह उनके स्तर पर पहुँच जाता है तो उसके प्रभाव से वह उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। ऐसी व्याख्या करने पर विश्वनाथ और जगन्नाथ एक ही सिद्धान्त के स्थापक कहे जा सकते हैं।[2] क्या उनके इस स्पष्टीकरण को रामचन्द्र-गुणचन्द्र के प्रसङ्ग में स्वीकार नहीं किया जा सकता? क्योंकि आचार्य विश्वनाथ का साधारणीकरण भी तो प्रमाता के मूल अनुकार्य के साथ तादात्म्य में पूर्व सोपान का कार्य करता है।

आचार्य भरत का कथन है कि सामान्य गुणयोग से रस निष्पन्न होते हैं।[3] साधारणीकरण और तादात्म्य सिद्धान्तों के मध्य उनके बीजरूप का अनुसन्धान भरत के इन शब्दों में सम्भव है। इसी प्रकार धनञ्जय द्वारा स्वीकृत साधारणीकरण और रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा स्वीकृत तादात्म्य अथवा अध्यवसान के औचित्य-अनौचित्य विषयक चर्चा में लिप्त होना उचित प्रतीत नहीं होता, तथापि इतना कथन अनुचित न होगा कि साधारणीकरण को स्वीकार करने पर भी तादात्म्य को किसी न किसी रूप में स्वीकार अवश्य करना होगा। भट्ट नायक द्वारा निरूपित साधारणीकरण सिद्धान्त के संशोधक अभिनवगुप्त के विचारों में भी तादात्म्य की प्रतिध्वनि का श्रवण सम्भव है।[4] रामचन्द्र पुरी का कथन है कि आचार्य भरत तथा भट्टनायक को भी आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य का सिद्धान्त स्वीकार्य था।[5] यदि यही वस्तुस्थिति है तो धनञ्जय के सम्बन्ध में भी यह कल्पना सहज सम्भव है।

---

१. व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः।
तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः ॥ ९ ॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ॥ १० ॥
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति ॥ ११।३ सा० द०

२. साधारणीकरण और तादात्म्य पृ० ६७।

३. एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते। ना० शा० भाग–१ पृ० ३४८।

४. तथाहि—लौकिकानुमानेन संस्कृतः प्रमदादिना तत्स्थ्येन प्रतिपद्यते। अपितु हृदयसंवादात्मक सहृदयत्व-बलात्पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मृत्यादिसोपानमारुह्येव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया। अभि० भा० (ना० शा० भाग–१) पृ० २८४।

५. साधारणीकरण और तादात्म्य पृ० ६१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाता की रसानुभूति के सम्बन्ध में यदि आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाये तो धनञ्जय की अपेक्षा रामचन्द्र-गुणचन्द्र की विचारधारा सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। डॉ० सुलेखचन्द्र शर्मा भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि काव्यास्वाद और लोकानुभूति के जिस सम्बन्ध को वे जिस यथार्थ मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं, उसमें अनुभूतियों के सामञ्जस्य के गुणात्मक कोटिक्रम की आधुनिक अवधारणा उनके चिन्तन को विशिष्ट बना देती है।[1]

काजी पाड़ा, बिजनौर (उ. प्र.) २४६७०१

संदर्भ ग्रन्थ

१. अभिनवोत्तर संस्कृत-काव्यशास्त्र में साधारणीकरण-विमर्श : डॉ. सुलेख चन्द्र शर्मा; देवपाणि परिषद् दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८३।

२. अभि. भा.—अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र से उद्धृत)

३. का. प्र.—काव्य प्रकाश : मम्मट; आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६०।

४. दश.—दशरूपक : धनञ्जय, डॉ. श्री निवास शास्त्री; साहित्य भण्डार, मेरठ, तृतीय संस्करण १९७६।

५. दि नाट्यदर्पण ऑफ रामचन्द्र एण्ड गुणचन्द्र—ए क्रिटिकल स्टडी : डॉ. एच. त्रिवेदी; एल. डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद, फर्स्ट एडिशन १९६६।

६. धनिक-वृत्ति (धनञ्जय के दशरूपक से उद्धृत)।

७. ध्वनि-सिद्धान्त : विरोधी सम्प्रदाय-उनकी मान्यताएँ : डॉ. सुरेशचन्द्र पाण्डेय, वसुमती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९७२।

८. ध्वन्या.—ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, डॉ रामसागर त्रिपाठी, द्वितीय खण्ड, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६३।

९. ना. द.—नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र; ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा १९५९।

१०. ना. शा.—नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत; भाग—१, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, द्वितीय संस्करण १९५६।

११. बाल बो.—बालबोधिनी : भट्टवामनाचार्य झलकीकर द्वारा रचित काव्य प्रकाश की टीका : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण १९०१।

१२. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९७१।

१३. रस-सिद्धान्त : डॉ. ऋषिकुमार चतुर्वेदी; ग्रन्थायन, सर्वोदय नगर, सासनीगेट, अलीगढ़, प्रथम संस्करण १९८१।

१४. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन : डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त; भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, प्रथम संस्करण १९६२।

१५. रस-सिद्धान्त : डॉ. नगेन्द्र : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, तृतीय संस्करण १९७६।

---

१. अभिनवोत्तर संस्कृत-काव्यशास्त्र में साधारणीकरण-विमर्श पृ० ६५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. रस-सिद्धान्त : इतिहास और मूल्यांकन : सम्पादक डॉ. रामगोपाल शर्मा और प्रतापचन्द्र जैसवाल; समीक्षा लोक कार्यालय, आगरा १९७८।

१७. इस-विमर्श : डा. राममूर्ति त्रिपाठी; विद्यामन्दिर, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६५।

१८. रसगं.–रसगंगाधर–पण्डितराज जगन्नाथ, बदरीनाथ झा और मदन मोहन झा, प्रथम आनन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९६४।

१९. लो०–लोचन, ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त की टीका (ध्वन्यालोक से उद्धृत)

२०. संस्कृत-नाट्य-सिद्धान्त : डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६९।

२१. साधारणीकरण एक शास्त्रीय अध्ययन : डा० रामलखन शुक्ल; साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण १९६७।

२२. सा० द०–साहित्य दर्पण : विश्वनाथ; शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सप्तम संस्कररण १९७३।

२३. साधारणीकरण ओर तादात्म्य : रामचन्द्र पुरी, पुस्तक प्रचार, गान्धीनगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८३।

२३. हि० ना० द०–हिन्दी नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६१।

२५. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स : पी० वी० काणे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, थर्ड एडिशन १९६१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org